चतुर्थ अध्याय

रंगमंच और भाषा

चतुर्थ अध्याय
रंगमंच और भाषा

४.१ रंगमंच और भाषा

नाटक शब्द सुनते ही हमारी आँखों के सामने रंगमंच जरूर आता है। "सारी कलाओं में नाट्यकला संपूर्ण और एकांत रूप से प्रदर्शन अथवा प्रस्तुतिधर्मी कला है। इसे एक ही साथ खेला जाना है और देखा जाना है।"[१] नाट्यरचना और नाट्यप्रदर्शन एक दूसरे पर आधारित होते है। रंगमंच नाटक के प्रस्तुतीकरण की कला है। सही अर्थों में नाटक की सफलता की परख का, वास्तविक आधार रंगमंच ही है। आज की व्याख्या में रंगमंचीय गुण के अभाव में उच्चकोटि का साहित्यिक नाटक भी वास्तव में आदर्श नाटक नहीं कहलाता। रंगमंच केवल वह नहीं है जिसे हम अभिनेता, मंच-सज्जा, संगीत, प्रकाश तथा अन्य कलाओं का मिश्रण कहते हैं, वह एक स्वायत्त मौलिक कला है जिसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है।

नाटक को रंगमंच से पृथक नहीं किया जा सकता क्योंकि रंग निरपेक्ष नाटक को नाटक नहीं कहा जा सकता। रंग पात्र (नाटक) वह है, जिसे रंगमंच पर अभिनीत किया जा सके। इस दृष्टि से प्रत्येक अभिनेय नाटक को रंग नाटक कहा जा सकता है। प्रत्येक नाटक अभिनेय होता है। अंत: साहित्य के स्वतंत्र भेद दृश्य-काव्य के रूप में नाटक प्रतिष्ठा का मूलाधार रंगमंच ही है। सामाजिक को नाटकीय घटनाओं के संपर्क में लाने का काम रंगमंच द्वारा ही संभव हो सका। कहना होगा कि नाटक की सफलता एवं सार्थकता उसके प्रदर्शन पर ही होता है, न कि लिखित होने में क्योंकि नाट्यालेख का अभिप्राय ही उसका रंगमंच पर प्रदर्शन हैं।

मूलत: रंगमंच का उद्‌भव सामाजिक जीवन की घटनाओं को जनसमूह के समक्ष उपस्थित करने के निमित्त ही हुआ है। वास्तव में सामूहिक मनोरंजन का सबसे कलापूर्ण, रूचि संपन्न और स्थायीरूप रंगमंच ही हैं। देखना और जानना मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है और रंगमंच पर ही मनुष्य

की स्वाभाविक वृत्ति की पूर्ति होती है। प्रत्येक देश में नाटक और रंगमंच का विकास वहाँ की तत्कालीन सामाजिक संरचना के अनुसार हुआ करता है क्योंकि रंगमंच वहाँ के सामाजिक स्वरूप का अभिव्यंजक होता है। नाटक में जीवन की व्यापक दृष्टि होती है और हिंदी रंगमंच का आरंभ ही समाजसुधार की दृष्टि से हुआ है।

नाटक और रंगमंच का अन्योन्याश्रित संबंध है। नाटक के विकास और इतिहास की दृष्टि से देखा जाए तो नाट्यसाहित्य में इसकी प्राचीन परंपरा मिलती है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में रंगमंच का विशद वर्णन दिया है। आधुनिक काल में हिंदी नाट्यसाहित्य के प्रतिष्ठापक और पुजारी भारतेंदु हरिश्चंद्रजी ने भी अपने नाटक रंगमंच पर अभिनीत किए। जयशंकर प्रसादजी ने नाटक को रंगमंचीय बनाने के बजाए साहित्यिक बना दिया। डा.गिरीश रस्तोगी इस बारे में कहते हैं -''स्थिति ही अजीब थी उस समय। नाटककार कहता था कि रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिखे जाये।''[२] प्रसाद इस मत से सहमत नहीं थे। उन्होंने कहा था नाटक के लिए रंगमंच हो, रंगमंच के लिए नाटक नहीं। आगे रस्तोगी कहते हैं, ''नाटककार रंगमंच में आने को प्रस्तुत नहीं था, प्रस्तुतकर्ता नाटककार के पास जाने को तैयार नहीं था। दोनों की इस अहंकारी कुप्रवृत्ति का ही परिणाम था कि दोनों अधूरे रहे और अपने निर्माण काल में ही हमारा रंगमंच उपेक्षित रह गया।''[३] कारण कुछ भी हो, आधुनिक काल की शुरूआत में रंगमंच का उतना विकास नहीं हुआ जितना होना चाहिए था। हिंदी रंगमंच के निर्माण के पहले पारसी रंगमंच, बंगाली रंगमंच का निर्माण हुआ था। इनके ही प्रभावस्वरूप और प्रतिक्रियावश हिंदी साहित्यकारों ने मिलकर हिंदी रंगमंचीय नाटकों में जीवन-शक्ति का संचार करने का प्रयत्न किया। भारतीय रंगमंच के विकास में हिंदी नाट्यकारों के अतिरिक्त नाट्यप्रेमियों, हिंदी भाषा-भाषियों ने मंडलियों द्वारा सहयोग दिया।

आधुनिक दृष्टि से नाटक के बारे में यही व्याख्या की जाती है कि नाटक उस रचना विशेष को कहते है जिसका अभिनय रंगमंच पर किया जा सके। यहाँ एक तथ्य सामने आता है कि नाटककार का निकष रंगमंच है। नाटक और रंगमंच का संबंध अभिन्न है। किसी भी विधा के तत्वों के बारे में चर्चा

की जाए तो लगभग सभी तत्व एक दूसरे के पूरक होते हैं और सभी विधाओं के तत्व समांतर भी हैं। लेकिन विधा के प्रकारानुसार उनकी अभिव्यक्ति अलग होती हैं। नाटक की वस्तु-रचना में कथावस्तु के रूप में दो तत्वों का समन्वय है, कार्य और चरित्र जिसको कथानक और पात्र भी कह सकते हैं। वस्तु का विकास तो कार्य और पात्र के साथ ही सम्मिलित किया जा सकता है। अभिव्यक्ति के लिए कथोपकथन का सहारा लेना पड़ता है। अर्थात नाट्यकला में साधारणत: वार्तालाप या संभाषण को महत्व दिया जाता है। और यह वस्तुत: उसका बाह्य स्थूल आधार है। स्पष्ट है कि भाषा तत्व कथावस्तु से लेकर उद्देश्य तक नाटक से जुड़ा होता है। भाषा अन्य तत्त्वों से जुड़कर रंगमंच के साथ अपना संबंध जोड़ती है। अर्थात नाटक वाणी और रंगमंच की समन्वित कला है। वह कभी साहित्यिक और कभी रंगमंचीय तो कभी दोनों दृष्टियों से मूल्यवान होती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि उसकी सार्थकता वाणी के उत्कर्ष को रंगमंचीय रूपाकार देने में निहित रहती है। यही कारण भी हैं कि किसी भी भाषा के नाटकों की मूल्यवत्ता साहित्यिक दीप्ति के साथ समुन्नत रंगमंचीय चेतना की मुखापेक्षी होती है। इसके अध्याय में रंगमंच और भाषा का अभिन्न संबंध कैसे होता है इसका अध्ययन प्रस्तुत है। प्रसादजी ने रंगमंच को साहित्य के स्तर तक उठाने की चेष्टा की तो राकेश ने रंगमंच की अपेक्षाओं को सामने रखकर नाटक लिखे। राकेशजी के इस रंगमंचीय भाषा के प्रयास के पूर्व रंगमंच और भाषा की क्या स्थिति थी इस पर एक नजर डालना अनिवार्य हो जाता है।

रंगमंच सामने आते ही अभिनय तत्व महत्वपूर्ण बन जाता है। आद्य भरतमुनि ने नाटक के इस अनिवार्य अंग पर विशद विवेचन किया है। अभिनय के चार प्रकार माने हैं - आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक । वाचिक अभिनय भाषा या वाणी के अंतर्गत आता है। भरत वाचिक अभिनय को नाट्य का शरीर कहते हैं। अभिनय के अन्य अंग इसके अर्थ को व्यंजित करते है। नाटककार इसी के आश्रय पर और इसी के माध्यम से अपनी कथावस्तु हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इससे कथात्मक तथा चारित्रिक विकासक्रम उपस्थित होता है। सूत्रधार और अभिनेता मुख्यत: इसी आधार को ग्रहण करता है। अभिनय के अंतर्गत स्पष्ट हो जाता है कि अभिनेता को स्वरादि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

कथोपकथन संबंधी समस्त निर्देश वाचिक अभिनय के अंतर्गत आते हैं। किंतु इस वार्तालाप का जो नाट्य में प्रयोग किया जाता है, वह दो व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त शब्दों तथा वाक्यों का समूह मात्र नहीं होता। वार्तालाप का कथोपकथन को जीवन की संपूर्ण परिस्थिति के साथ ही प्रयुक्त होना चाहिए। इसके लिए नाटक की भाषा चिंतन तथा मनन की भाषा की अपेक्षा सीधे जीवन की भाषा के अधिक निकट होती है। उसे जीवन से ही सीधे ग्रहण किया जाता है।

साहित्य रचना में आज भाषा ने जैसा महत्व अर्जित कर लिया है, वैसा शायद पहले कभी नहीं किया था। अर्थात आज साहित्यिक भाषा तथा जीवन की भाषा में जो अंतर आ गया है, वह प्रारंभ में नहीं था। उन युगों का साहित्य गेय था अर्थात मानवीय सभ्यता के प्रारंभिक युग में काव्य की भाषा वहीं थी जो साधारण बोलचाल की थी। अभिव्यक्ति कलात्मक न होकर उपयोगिता मूलत होती है। मनुष्य आज भी प्रकृति का ही अंग है और उसने अपनी भौतिक तथा मानसिक अभिव्यक्ति के लिए भाषा को साधन बनाया है। नाटकीय संभाषण में भाषा के प्रयोग के भी दो स्तर होते हैं। वैसे तो साधारण लेखन और उच्चारण में भाषा के स्तर स्वीकृत ही हैं। भाषा जो वास्तव में वाणी ही है, लिखित रूप में कुछ प्रतीकों के सहारे और नियमों के आधार पर चलती हैं। और लिखित भाषा को उसके उच्चारण के रूप में उसको जीवित संदर्भ में लाने का प्रयत्न एक उच्चकोटि का ही काम है। यह काम अपने आप में कलात्मक होता हैं। इसी लिखित भाषा को उसके जीवन के संदर्भ में प्रस्तुत करना कल्पनाशील व्यक्ति का ही काम हैं। आधुनिक हिंदी नाटक संस्कृत नाट्य सिध्दांत तथा पाश्चात्य नाट्यविधान के परिणाम है। फिर भी उसे अपनी शैली में प्रस्तुत करना हिंदी नाटककारों की खूबी रही है।

भारतेंदु युग से पूर्व भी जो जननाटक प्रचलित थे, उनकी भाषा भी प्रदेशानुसार प्रचलित थी। इसमें अवधी, पूर्वी, हिंदी, ब्रज तथा खड़ीबोली आदि भाषाएं थी। भारतेंदु युग में ब्रजभाषा में नाटक प्रचलित थे। वस्तुत: हम जानते है कि हिंदी नाटक के उदय में भारतेंदु का योगदान महत्वपूर्ण है। भारतेंदुजी ने यही प्रयास किया कि उनके नाटक रंगमंचीय हो। चाहे वह संस्कृत नाटकों के अनुवाद हो या उनके अपने मौलिक नाटक। उन्होंने पुरबी पट मिश्रित बनारसी, ठेठ बनारस, डोम बोली, तत्सम

प्रधान संस्कृत शब्दावली, फारसी शब्द प्रधान शैली, अँग्रेजी शब्द मिश्रित हिंदी, ब्रजभाषा आदि भाषाओं को अपनाया है। इनके समकालीन नाटककारों ने भी लगभग इन्हीं भाषाओं को अपनाया। भारतेंदु के नाट्यलेखन से कुछ ऐसे महत्वपूर्ण सूत्र मिलते हैं जो आगे चलकर हिंदी नाट्यलेखन और रंगमंच का आधार बने; यथा १) परंपरागत नाट्य, पारसी और पाश्चात्य रंगमंच (बंगला के माध्यम से) के श्रेष्ठ रंग तत्वों को हिंदी रंगमंच का अंग बनाया और नए संदर्भों में प्रस्तुत किया। २) नाट्यरचना और प्रदर्शन को एक ही बिंदु पर दिखाया। ३) जनजीवन की अभिव्यक्ति और जनभाषा का नाटकीय प्रयोग कर दिखाया और ४) हास्य और व्यंग्य का सर्जनात्मक प्रयोग किया।

''भारतीय रंगमंच यात्रा में पारसी थिएटर विरोधी दिशा में बहनेवाली नदियों का ऐसा अपूर्व संगम है; जहाँ पूर्व और पश्चित, शास्त्रीय और लोक, व्यावसायिक और पुनरुत्थानवादी तथा राष्ट्रीय और रोमानी चेतनाएं परस्पर घुलमिलकर एक अजब रूप और अंदाज में हमारे सामने आयी थी। यह संगम भारतीय जीवन के उस लंबे गहन चरण में संभव भी था, जब एक ओर हम क्रमशः सीधे पश्चिम के संपर्क में आ रहे थे और दूसरी ओर जब हम में राष्ट्रीय चेतना, प्राचीन इतिहास-पुराण के गौरव की भावना तीव्र हो रही थी।''[४] वैसे पारसी थिएटर के नाटक एक ओर उस काल के व्यापक दर्शक समाज की भावना और रूचि को ही व्यक्त करते है। साथ ही दूसरी ओर नाटककारों की संकुचित दृष्टि और सीमित प्रतिभा को. इन नाटकों के संवादों की भाषा अतिआवेगयुक्त थी। वह अपने रंगमंच की प्रकृति के अनुकूल एक ओर अलंकरणप्रधान होती थी तो दूसरी ओर वह व्यापारमूलक संवाद को हाथ-पैर चालन से और रंग व्यापार से जोड़नेवाली होती थी। संवादों के प्रकार कितने ही थे। कुलमिलाकर इस पारसी नाटक रचनाविधान से हिंदी नाटककारों ने प्रेरणा ग्रहण की लेकिन उनके अर्थ में नही बल्कि अपनी राष्ट्रीय चेतना के रूप में ग्रहण की।

प्रसादजी ने नाटक को रंगमंचीय बनाने से ज्यादा साहित्यिक बना दिया है। उनकी भाषा में काव्यात्मक संस्कृत शब्दावली का परिनिष्ठित प्रयोग अधिक पाया जाता है। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि नाटकों की भाषा और पात्रों का संभाषण तथा नाटकीय क्षण के विकास इसे दृश्यकाव्य की संज्ञा

का अधिकारी बना देते है। इस अर्थ में 'स्कंदगुप्त' नाटक की भाषा रंगमंचीय कसौटी पर कई स्तरों पर खरी उतरती हैं। इनके अन्य नाटकों की भाषा चाहे ज्यादा साहित्यिक हो और रंगमंचीयता का उसमें अभाव भी हो फिर भी वह भारत की गौरवगाथा की स्पष्ट रूप से गुणगान करने में सक्षम है।

नाटकों की भाषा वैसी होती है, जैसे युग होता है। युग के अनुसार भाषा में परिवर्तन होता है। संश्लिष्ट भाषा को सरल रूप में करने का प्रयास साहित्यकार का कर्तव्य बन जाता है। भारतेंदुजी ने हिंदी रंगमंच की स्थापना के साथ अनेक भाषाओं से एक ऐसी भाषा तैयार की जो आगे चलकर हिंदी नाटक के विकास में सार्थक साबित हुई। उनके नाटकों के प्रकार अनेक है, तो उनके नाटकों की भाषा भी अलग हैं और देश-काल, पात्र-वेशभूषा के अनुसार भी है। ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, व्यक्तिप्रधान, समस्याप्रधान आदि प्रकार के नाटकों की भाषा का अलग होना कोई आश्चर्य वस्तु की नहीं है, बल्कि अनिवार्यता हैं।

प्रसादोत्तर युग में हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविंददास, उदयशंकर भट्ट, उपेंद्रनाथ अश्क, वृंदावनलाल वर्मा का नाम आता है। अन्य महत्वपूर्ण नाटककारों में जगदीशचंद्र माथुर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, विनोद रस्तोगी आदि का समावेश है। मोहन राकेश के समकालीन नाटककारों में लक्ष्मीनारायण लाल के अलावा अन्य दो महत्वपूर्ण नाम है सुरेंद्र वर्मा और मुद्राराक्षस। मणिमधुकर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, ललित सहगल, ब्रजमोहन शाह, दया प्रकाश सिन्हा, गिरिराज किशोर, अमृतराय, शंकर घोष, मृदुला गर्ग, भीष्म साहनी आदि भी महत्वपूर्ण नाटककार है। आदि नाटककारों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया रंगमंच की परंपरा को विकसित करने में। इन्होंने अपने नाटकों की भाषा अपने नाटकों के अनुसार लिखी। रंगमंचीय भाषा इनके नाटकों की विशेषता रहीं हैं। इसका अलग से अध्ययन करना आवश्यक नहीं। मोहन राकेश का रंगमंच और भाषा का अध्ययन करना यहाँ महत्वपूर्ण हो जाता है।

राकेशजी को रंगशिल्पी ही कहना चाहिए क्योंकि वो मानते थे कि यदि हम रंगों और ध्वनियों पर उचित ध्यान दे तो साधारण से साधारण सेट पर खेला गया नाटक भी प्रभावशाली हो जाता

है। 'आषाढ़ का एक दिन' उनके यही संभावनाओं की खोज हैं। उनके विचार से रंगमंच के लिए किसी विशेष उपलब्धियों की जरूरत नहीं है। 'आषाढ़ का एक दिन' में वे 'दो शब्द' में इस बारे में कहते हैं और आनेवाले समय से कुछ आशा भी करते हैं - ''हिंदी रंगमंच के विकास से निस्संदेह यह अभिप्राय नहीं है कि अत्याधुनिक सुविधाओं से संपन्न रंगशालाएं राजकीय या अर्धराजकीय संस्थाओं द्वारा जहाँ तहाँ बनवा दी जाएँ जिसस वहाँ हिंदी नाटकों का प्रदर्शन किया जा सके। प्रश्न केवल आर्थिक सुविधा का ही नहीं, एक सांस्कृतिक दृष्टि का भी है। हिंदी रंगमंच को हिंदी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा। हमारे दैनंदिन जीवन के रागरंग को प्रस्तुत करने के लिए, हमारे संवेदों और स्पंदनों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस रंगमंच का रूपविधान नाटकीय प्रयोगों के अभ्यंतर से जन्म लेगा और समर्थ अभिनेताओं तथा दिग्दर्शकों के हाथों उसका विकास होगा।''[५] हिंदी रंगमंच के इसी विकास को आगे बढ़ाने में उन्होंने प्रयोगधर्मी नाटकों की रचना की। राकेश के समय हिंदी रंगमंच की कोई विशेष परंपरा नहीं थी और जो पाश्चात्य रंगमंच की परंपरा उपलब्ध थी उसे पूर्व रूप से स्वीकार करना असंभव था। अपने 'दो शब्द' में यही कहना चाहते हैं , ''हिंदी नाटक रंगमंच की किसी विशेष परंपरा के साथ अनुस्यूत नहीं है। पाश्चात्य रंगमंच की उपलब्धियाँ ही हमारे सामने हैं। परंतु न तो हमारा जीवन उन सब उपलब्धियों की माँग करता है और न ही यह संभव प्रतीत होता है कि हम उस रंगशिल्प को व्यापक रूप से ज्यों का त्यों अपने यहाँ प्रतिष्ठित कर दें।''[६] राकेश पाश्चात्य परंपरा को नकार नहीं सकते थे और ना ही अपनी कल्पना को ठुकरा सकते थे। उनके मन में रंगमंच की अपनी कल्पना थी जिन्होंने 'आषाढ़ का एक दिन' में साकार कर दी। उनका यह प्रथम नाटक अपनी नवीनताओं के कारण रंगमंच का उद्घाटक साबित हुआ।

राकेशजी को एक व्यथा हमेशा घेरे रहती थी हिंदी रंगमंच का उतना विकास नहीं हुआ जितना होना चाहिए था क्योंकि वे जानते थे उनका रंगमंच किसी विशेष परंपरा के साथ अनुस्यूत नहीं था। राकेश के समय सिनेमा और रेडियों नाटक का बोलबाला था और आज भी है। और इसी कारण

उन्होंने दृश्य के लिए दृश्य की अपेक्षा शब्दों को अधिक महत्व दिया। रंगमंच से जुड़े सभी तत्वों को वे महत्वपूर्ण मानते थे जैसे सभी नदियाँ घूम फिरकर सागर में ही अंततोगत्वा जाकर समाहित हो जाती है, उसी प्रकार नाटक की भाषा, संवाद, कथ्य, कथानक, पात्र और चित्रण आदि सभी कुछ रंगमंच से जुड़कर ही सार्थकता पाते है। जनजीवन ही नाटक है और जनजीवन की भाषा नाटक की भाषा होती है इसीलिए भाषा का रंगमंच के साथ अनन्य साधारण संबंध है और एक अलग नाता भी है। वो इसीलिए कि उसे रंगमंच के अनुकूल विशेषताओं के साथ प्रकट होना होता है। वह साधारण होकर भी असाधारण लगनी चाहिए। नाटक में सोता-जागता इंसान मंच पर आता है; तो सहज है कि उसकी भाषा प्रभावशाली हो, संप्रेषणीयता हो।

रंगमंच में शब्दकार का स्थान महत्वपूर्ण होता है। ''उनकी दृष्टि में निर्देशक एक परिचालक मात्र है, शब्दकार की रचना का व्याख्याकार मात्र है। वे शब्दकार की महत्ता की स्थापना को ही रंगमंच में ही सही और नयी दिशा मानते थे।''[७] इसके साथ ही राकेशजी नाटक के लिखने के साथ उसे रंगमंच पर प्रस्तुत करने तक एक विशिष्ट सहयोग की प्रक्रिया को मानते थे जिसमें शब्दकार, परिचालक और अभिनेता हो।

''राकेश एक स्त्रष्टा थे, रचनाकार थे। अपने अनुभवों के आधार पर अपने लेखन और अभिव्यक्ति पर उन्हें पूरा भरोसा था। इसीलिए वे नाटक की मूल संपत्ति अपनी अनुभूतियों पर आधारिक शब्दों तथा उनसे निकलनेवाली ध्वनियों को मानते थे। वे कहते थे कि रंगमंचीय निष्पत्ति मूलत: शब्दकार की कल्पना पर ही आधारित होती है।''[८] संक्षेप में राकेश नाटककार से यही अपेक्षा करते है कि शब्दकार को अपनी कल्पना से रंगमंच पर पूर्ण सफलता पानेवाले नाटक का ही निर्माण करना चाहिए सिर्फ भाव गुंफित भाषा का निर्माण नहीं करना चाहिए। बल्कि उसमें नाटकीयता हो। कहना होगा कि सही अर्थों में उन्होंने सही रंगमंच और सही शब्दों की तलाश की है। पट्टणशेट्टी कहते है - ''इस (रंगमंचीय) प्रकार के नाटक के लिए अत्यंत आवश्यक और ध्वनियों के मुख्य व्यक्ति, सूत्रधार - शब्दकार का महत्व स्थापित करने की दिशा में भी राकेश ने जैसा अथक प्रयत्न किया है वैसा कन्नड़ के

आद्य रंगाचार्य श्रीरंग को छोड़कर भारतीय साहित्य में अन्य किसी नाटककार ने नहीं किया है।''[९]

नाटक की भाषा ऐसी है जिसे जिया और भोगा जाता है, महसूस किया जाता है। राकेश की भाषा इसका सजीव प्रमाण है। राकेश ने अपने नाटकों में भारतीय चिंतन में पगे हुए प्रतीकों का अनूठा प्रयोग किया है। इन प्रतीकों की भाषा का प्रयोग अन्यत्र दुलभ है। इस अनूठे विद्रोही प्रयोगधर्मी रचनाकार के पात्र रंगमंच पर अपने भावों को भाषा द्वारा प्रस्तुत करते हैं। इनका द्वंद्व उभारने के लिए प्रतीकों का प्रयोग अनूठा है। 'आषाढ़ का एक दिन' में मेघ के गीले प्रतीक बिंब पर सारी चेतना आधारित है। 'लहरों के राजहंस' में कमलताल, राजहंस, कामोत्सव, श्यामांग का नेपथ्य स्वर, बुध्द की छाया, दर्पण, मृग आदि जीवंत प्रतीक है। जिससे नंद और सुंदरी की अपार्थिवता और पार्थिवता का द्वंद्व उभरता है। 'आधे-अधूरे' में चीज का डिब्बा प्रतीक बन गया है जिसको खोला भी जाता है मगर उसके अंदर की वस्तु कोई खा नहीं पाता है। अधूरा काम रह जाता है। 'आधे-अधूरे' में सबकुछ टूटा फूटा, बिखरा-बिगड़ा हुआ है। जूठे बर्तन, मैला पाजामा, कैंची, एक खंडहर की आत्मा को व्यक्त करता हुआ या हल्का मातमी संगीत जीवन की हर थकान, टूटन को सहज ही व्यक्त कर देता है। इन तीनों नाटकों ने रंगमंच पर तहलका मचा दिया है। 'आधे-अधूरे' में तो एक ही व्यक्ति के द्वारा चार भूमिकाएँ निभाने में सब पुरूषों की समानता, एक मानसिकता का प्रतीक सूचित करने में राकेश की नई विचारशक्ति का प्रमाण है। साथ ही साथ एक अभिनेता की कुशलता और प्रतिभा का परिचय हमें देखने को मिलता है। अन्य अभिनेताओं की तलाश भी नहीं करनी पड़ेगी इसका यह सार्थक उदाहरण है।

राकेश के नाटक साधारण सेट पर खेले जो चुके हैं और जा सकते हैं। बंद और खुले मंच पर इनका सफल प्रयोग हुआ है। एक ही दृश्यबंध निर्मित करके वातावरण की सृष्टि करने का प्रयास भी राकेश के इन तीनों नाटकों में देखा जा सकता है। 'आषाढ़ का एक दिन' में एक साधारण प्रकोष्ठ का ही दृश्य अंत तक बना रहता है। प्रत्येक अंक में काल का अंतराल सूचित करने के लिए थोड़ा परिवर्तन किया है। इसके अंत में नायक चला जाता है। 'लहरों के राजहंस' में सुंदरी का कक्ष तीनों अंकों में थोड़े बिखराव के साथ प्रयोग में आता है। हर अंक में बिखराव उनकी जिंदगी का ही प्रतीक है। 'आधे-

अधूरे' में घर का वही अधूरा कमरा दोनों भागों में है। जिसे अंत तक हम रंगमंच पर पूरा नहीं देख पाते। 'लहरों के राहजंस' का नायक भी चला जाता है मगर 'आधे-अधूरे' का नायक लौटने के लिए मजबूर है। इन नाटकों की मंच चेतना परदों से प्रकाश की ओर आगे बढ़ी है साथ ही नायक की विवश स्थिति बढ़ गयी है।

संवादों में भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग हुआ है। हर जगह कई शब्दों की आवृत्ति अपना अलग अर्थ प्रस्तुत करती है। रंगमंच पर पात्र अपने अभिनय से इन शब्दों की अलग सत्ता कायम करने में सफल हुए है। ये शब्द संवाद, दृश्य, स्थिति और अर्थ के साथ जुड़कर विलक्षण प्रभाव उत्पन्न करते हैं। ये संवादों को एक विशिष्ट शिल्प में ढ़ालकर उन्हें व्यंजना, वक्रता, ध्वन्यात्मकता तथा पाठ से भिन्न अर्थ-गौरव प्रदान करते हैं। इस प्रकार की व्यंजना, कहीं कहीं शब्द, वाक्यों के पद-लोप तथा अधूरे वाक्यों से भी साध्य हुई हैं। विशेष करके 'आधे-अधूरे' में राकेश ने भाषा की सारी शक्ति का उपयोग कर लिया है।

राकेश के नाटकों की संपूर्ण नाटकीयता उनके शब्दों की शक्ति में ही नजर आती है। नाट्यप्रयोग की दृष्टि से आज के युग का सबसे महत्वपूर्ण प्रयोगकर्ता मोहन राकेश हैं। नाट्यसृजन के लिए उत्कर्ष को राकेश के नाटकों ने प्राप्त किया है वैसा कोई अन्य नाटककार नहीं पा सका। इसीसे अखिल भारतीय स्तर पर भी जब महत्वपूर्ण समकालिक नाट्य प्रयोगों की चर्चा की जाती है तो हिंदी का प्रतिनिधित्व करने का श्रेय मोहन राकेशजी को ही जाता है।

४.२ आलोच्य नाटकों की रंगमंचीय भाषा

हिंदी नाटक और रंगमंच का संबंध स्वतंत्रता पूर्व ढूँढना जैसे निरर्थक है, किंतु स्वतंत्र भारत में इसका प्रयास अवश्य बना रहा। नरनारायण राय कहते हैं - 'आजादी मिलने के बाद जीवन और जगत में इतने सारे परिवर्तन हुए कि उनका स्वतंत्रतापूर्व के भारत की परिस्थितियों से कोई साम्य नहीं रह गया। इसलिए स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक और रंगमंच एक नितांत भिन्न परिवेश और परिस्थितियों की उपज है। मोहन राकेश स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक और रंगमंच के सर्वाधिक सशक्त हस्ताक्षर

है।''[१०] वस्तुत: प्रत्येक कला अपने माध्यम की सीमाओं से बंधी होती है। अभिनेता, वेशभूषा, दृश्यबंध, संगीत, प्रकाश, मंच स्थापत्य तथा दर्शक आदि। इन तत्वों में सर्वाधिक महत्व अभिनेता का होता है। नाटक में दृश्यात्मकता के आग्रह पर दृश्यविधान, अभिनय, मंचीय प्रसाधन आदि को नाट्यभाषा माना जाता है। नाटक में संरचना की दृष्टि से 'दृश्यत्व' उसके मंचोपयोगी होने में सार्थक होता है। नाटक की भाषा उन सब रंगों को व्यापारों से जोड़ती है जिन्हें प्रेक्षक देखता है और सुनता भी है। इसीलिए अभिव्यक्ति या प्रस्तुति का साधन नाटक की भाषा को कहा जाता है। प्रेक्षक नाटक के मंचन के दौरान इस भाषा को सीखता है, महसूस करता हैं, अपना प्रतिरूप उसमें देखता है। रंगमंचीय भाषा की व्याख्या ही देखना और जानना है। संक्षेप में नाटक की यह भाषा रंग-संकेतों और रंग निर्देशों की भाषा होती है। इस भाषा का महत्व रंगमंच की दृष्टि से ही तो है लेकिन जब साहित्यिक विधा के रूप में नाटक की भाषा जब प्रयुक्त होती है तब वह कथावस्तु के संयोजन तथा प्राकथन में माध्यम के रूप में प्रतीत होती है।

४.२.१ आषाढ़ का एक दिन

नाटक में भाषा का प्रयोग दो प्रकार से होता हैं - रंगनिर्देश और संवाद। वस्तुत: नाटक की संरचना और उसकी नाटकीयता को रेखांकित करने के लिए रंग-निर्देश आवश्यक तत्व हैं।

रंग निर्देश के द्वारा नाटककार नेपथ्य-विधान, मंच-सज्जा, पात्र परिचय, संवादों में कथा की गति एवं संदर्भ के अनुरूप वाक्-अभिव्यक्ति के निर्देश आदि महत्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख करता है। भाषा की दृष्टि से रंग-निर्देश दो प्रकार के होते हैं - निर्देश परक और वर्णनात्मक। इन रंग निर्देश के कारण वातावरण की सृष्टि होती है, पात्रों का सम्यक परिचय मिलता है तथा मंचन के लिए उपयुक्त सामग्रियों एवं व्यवस्थाओं की रचना दिखाई देती है। मोहन राकेश 'आषाढ़ का एक दिन' में रंग निर्देश भी दृश्यबंध की प्रस्तुति भाषिक उपादानों से कराते हैं।

'' एक साधारण प्रकोष्ठ । दीवारें लकड़ी की हैं, परंतु निचले भाग में चिकनी मिट्टी से पोती गयी हैं। बीच-बीच में गेरू से स्वस्तिक के चिन्ह बने हैं। सामने का द्वार अंधेरी सी ड्योढ़ी में

खुलता हैं। उसके दोनों ओर छोटे-छोटे ताक हैं; जिनमें मिट्टी के बुझे हुए दीपक रखे हैं। बाई ओर का द्वार दूसरे प्रकोष्ठ में जाने के लिए है। द्वार खुला होने पर उस प्रकोष्ठ में बिछे हुए तल्प का एक कोना ही दिखायी देता है।''[११]

इस रंग-निर्देश के कारण पूरे नाटक की भाषा का स्वरूप समझ में आता है। उध्दरण में प्रयुक्त शब्दावली ज्यादातर संस्कृतनिष्ठ है। इससे यह सूचित होता है कि नाटक की भाषा संस्कृतनिष्ठ है। और साथ ही सामान्य व्यावहारिक बोलचाल की भाषा के स्तर से अधिक परिष्कृत और विशिष्ट भी है।

'आषाढ़ का एक दिन' के रंग निर्देश ऐसे हैं जिससे पात्रों के रूप रंग, वय आदि का विस्तृतवर्णन देखने को मिलता है, तो कभी संक्षिप्त निर्देश। ये निर्देश यथार्थमूलक, प्रभावपूर्ण और मंचीय हैं। मल्लिका का भोलापन, करुणता, उसकी सेवावृत्ति और उसकी सुंदरता यहाँ दर्शित होती है -कालिदास हरिणशावक से कहता है - ''तुम्हें वहाँ ले चलता हूँ जहाँ तुम्हें अपनी माँ की सी आँखे और उसका सा की स्नेह मिलेगा।''[१२] पात्र के आंतरिक संघर्ष, मनोवैज्ञानिक स्थिति और परिस्थिति की नाटकीयता इस रंग-निर्देश के माध्यम से 'आषाढ़ का एक दिन' में प्रस्तुत होती है। अंबिका का आंतरिक संघर्ष उसकी विद्रोही भाषा के द्वारा प्रस्तुत होता है - 'माँ का जीवन भावना नहीं, कर्म हैं। उसे घर में बहुत कुछ करना है।'[१३] तथा 'तो जाकर तुम भी क्यों नहीं बटोर लाती ? संभव है फिर लोग यहाँ कोई पत्थर शेष न रहने दे और तुम्हारी भावना के लिए कोई आधार न बचे।''[१४]

मंच सज्जा का प्रमुख उद्देश्य दृश्यात्मक और भावनात्मक पृष्ठभूमि तैयार करना है। मंच-सज्जा के उपकरणों का चुनाव मोहन राकेश को उत्कृष्ट निर्देशक भी साबित करता है। मंच सज्जाके अनुरूप एवं सुलभता के साथ उपकरणों का चुनाव अत्यंत सावधानी से किया है। राकेश के नाटकों की मंचसज्जा के उपकरण इतने आसान हैं जिन्हें भारी-भारी सेट की आवश्यकता नहीं और ना ही बहुमूल्य सामग्री की। रंगमंच को लेकर उनमें सांस्कृतिक दृष्टि हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में 'दो शब्दों' में ही उन्होंने लिखा है - ''प्रश्न केवल आर्थिक सुविधा का ही नहीं, एक सांस्कृतिक दृष्टि का भी है।''[१५] नाटकीय प्रयोगों से ही रंगमंच का उत्तरोत्तर विकास होता रहेगा। 'आषाढ़ का एक दिन' का रंगमंच

इतना सफल है कि उसके लिए किसी बहुमूल्य चीजों की आवश्यकता ही नहीं बल्कि आर्थिक स्थिति भी हमारा पक्ष लेती है।

'आषाढ़ का एक दिन' के मंचसज्जा के लिए कम उपकरणों का चुनाव ही राकेश की भाषा की विशेषता है। भारतीय रंग-राशियों का ज्ञान अत्यंत स्पष्ट रूप में झलकता है जिससे राकेश की सूक्ष्म दृष्टि दिखाई देती हैं। उपकरणों के नाम भारतीय संस्कृति के द्योतक हैं भाषा ही वह है जो हमें उनसे परिचित कराती हैं। चार कुंभ, धान फटकने का छाज, मोढ़े, अलगनी पर सूखते गीले कपड़े, कोने से चूल्हा, चूल्हें पर औटाया हुआ दूध, उसमें मिलाने के लिए शर्करा, हरिणशावक, कोरे पृष्ठों का महाकाव्य, काव्यों की प्रतिलिपियाँ, औषधियाँ पीसने का खरल मिट्टी और कांसे के बरतन, कुशा से रखकर पत्थर से ढके कुंभ, बाघ छाल, लकड़ी का आसन (चौकी), अग्निकाष्ठ, लकड़ी के दीवारों में दोनों ओर बने हुए छोटे छोटे ताक, उनमें रखे हुए मिट्टी के बुझे हुए दीये, भोजपत्र और एक टूटा हुआ पाल्ना, एक तल्प, केवल इतनी ही सामग्री मंचसज्जा के लिए उपयुक्त है। इसके कितने ही उपकरण भारतीय संस्कृति और भारतीयता से गहरे जुड़े हैं। नेपथ्य से आनेवाली ध्वनियाँ भी सरल रूप में प्रस्तुत करने योग्य है - मेघ गर्जना का स्वर, बिजली की कौध, वर्षा का स्वर तथा घोड़े के टापों की ध्वनि इन सब श्राव्य-दृश्य उपकरणों में मानों भारतीय संस्कृति का सार निचोड़ कर प्रेक्षक के समक्ष जीवंत हो उठता है।

जिस प्रकार नाट्यरचना में सर्वाधिक महत्व चरित्रों का होता हैं, उसी प्रकार रंगमंच की प्रक्रिया में अभिनेता का। अभिनेता रंगमंच का प्राण है। रंगमंच एक ओर अभिनेता के शरीर का उपयोग करता है दूसरी ओर वाणी का । इन दोनों माध्यमों का मूल स्त्रोत नाट्यभाषा ही कहीं जा सकती है। नाट्यभाषा का वाक्य विन्यास भाषिक उतना नहीं होता जितना वह अभिनेता के उच्चारण और लय पर आधारित होता है। "नाट्यभाषा मंच पर अभिनेता द्वारा बोले जाने के लिए लिखी जाती है, इसलिए उसकी संरचना में रंगीय तत्वों का बहुत बड़ा होता है। नाट्यभाषा उनके आपसी रिश्तों की देन कही जा सकती है।"[१६] 'आषाढ़ का एक दिन' के पात्रों का अभिनय ज्यादातर भावनाओं से

संबंधित है। विलोम के अभिनय को छोड़कर सारे पात्र भावनाओं से भीगे हैं। नाटक के आरंभ में उदासी से भीगी अंबिका और वर्षा में भीगी मल्लिका है। कोमल भावनाओं का कवि कालिदास है जो अंतर में समय के आगे हार जाता है। इन सबका अभिनय उनके संवादों के द्वारा और निखर आता है। नाटक की निम्नलिखित पंक्तियाँ मल्लिका की इस मानसिकता और उस समय की भाव-स्थिति को स्पष्ट करती हैं जब अंबिका विलोम के जाने के बाद मल्लिका को रोते देख पूछती है -

''अंबिका : अब भी होती हो ? उसके लिए ? उस व्यक्ति के लिए जिसने ... ?

मल्लिका : उनके संबंध में कुछ मत कहों, कुछ मत कहों ...।''[१७]

प्रसाद की ऐतिहासिक परंपरा स्वीकार करके भी मोहन राकेशजी ने उसे सर्जनात्मक धरातल पर अपने ढंग से अस्वीकार किया। कालिदास का ऐतिहासिक व्यक्तित्व यहाँ पूरा देखने को नहीं मिलता वैसे कालिदास को लेकर भी इतिहास एकमत दिखाई नहीं देता। प्रसादजी ने जहाँ इतिहास चुप था वहाँ अपनी निजी खोज की। भारतीय गौरव को उभारा। लेकिन राकेश ने अपनी खोज की लेकिन इतिहास के समय में बँधे नहीं। राकेशजी कालिदास को सृजनात्मक व्यक्तियों का प्रतीक कहते हैं तो उसमें सृजनशील कलाकार के शाश्वत अंतर्द्वंद्व की झलक भी देखते है। ''मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुजरना पड़ा है।''[१८]

कालिदास उज्जयिनी जाकर वहाँ की सुविधाओं के बीच कुछ भी अर्जित नहीं कर पाता, जो कुछ उसने लिखा उसके अपने ग्राम के परिवेश का संचय था। वहाँ जाकर सूख जाता है। अपने ग्राम लौटकर आता भी है तब तक इच्छा से ज्यादा समय प्रभावशाली बन चुका होता है। इस अंतर्द्वंद्व में आज के कलाकार का शाश्वत द्वंद्व नीहित है। आज का कलाकार राजनीति की गद्दी पर बैठकर अपनी सृजनशक्ति खो बैठ देता है क्योंकि सिर्फ लेखन से जिंदगी गुजारी नहीं जा सकती और जब गद्दी मिल जाती है तो निजी स्वातंत्र्य खोना पड़ता है। यह अंतर्द्वंद्व अपने में अर्थ संप्रेषित है। पात्रों का अंतर्द्वंद्व अभिनय की विशेषता है। अंतर्द्वंद्व को संप्रेषित करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग राकेश ने किया है वह अपने आप में अनूठा है। कालिदास का लंबा कथोपकथन उसके अंतर्द्वंद्व को और निखारता है,

अभिनय में उसकी कोई बाधा भी नहीं आती। 'यथा - ''लोग सोचते हैं, मैंने उस जीवन और वातावरण में रहकर बहुत कुछ लिखा है। परंतु मैं जानता हूँ कि मैंने वहाँ रहकर कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है यहाँ के जीवन का संचय था।''[१९]

'आषाढ़ का एक दिन' का कथानक सरल लगता है किंतु बारीकी से देखें तो नाटककार गहरी रंगदृष्टि रखनेवाले नजर आते है। पात्रों का बाह्य संघर्ष और आंतरिक संघर्ष के ताने-बाने हैं। अभिव्यक्ति के लिए सार्थक दृश्य-बिंबों का प्रयोग एकदम नये आयाम स्थापित करती है। द्वंद्व को प्रभावशाली बनाने के लिए नाटककार ने वैपरीत्य (Contrast) की बहुत सफल योजना की है। कालिदास और विलोम के व्यक्तित्व में वैपरीत्य । कालिदास जितना अधिक संवेदनशील है, विलोम उतना ही संवेदनशून्य। अंबिका उदासी से भीगी, मल्लिका प्रेम की वर्षा में भीगी, अर्थात एक ओर यथार्थ तो दूसरी ओर भावुकता । यहाँ वैपरीत्य पात्रों के द्वंद्व को स्पष्ट करने में सक्षम हैं। दूसरे अंक में राकेशजी ग्राम और राज्य के वैपरीत्य को महसूस कराते है। राजसी जीवन तड़क भड़क वाला और ग्राम का जीवन एकदम सादा। वैपरीत्य का प्रयोग रंगमंच की नयी दिशा है। मल्लिका और प्रियंगुमंजरी का व्यक्तित्व वैपरीत्य का सुंदर नमूना है। मल्लिका भोली-भाली, प्रियंगुमंजरी व्यावहारिक, राजनीति में पटु। भाषा इसमें प्रमुख लगती है क्योंकि वे विचार ही होते हैं जो अन्य तत्वों के पूरक बनकर रंगमंच पर प्रकट होते हैं। द्वंद्व और वैपरीत्य ये दोनों लगातार नाटकीय तनाव को बुनते चले जाते हैं। अंबिका की नाराजगी दर्शक के लिए जिज्ञासा पैदा करता है। 'अपवाद' शब्द से कालिदास के प्रति अंबिका का नफरत से देखना तनाव पैदा करता हैं। हरिणशावक को देने से कालिदास का इंकार यहाँ बाहरी द्वंद्व की पुष्टि फिर तनाव पैदा होता है। कालिदास का नि:शस्त्र होकर भी न डरना - दंतुल क्षमा माँगते हैं। तनाव यहाँ ढ़ीला होता है। दंतुल के जाते ही अंबिका और मल्लिका के बीच तनाव, विलोम की उपस्थिति से तनाव और पैदा होता है। विलोम और कालिदास के वैपरीत्य चरित्र को लेकर तनाव बढ़ जाता है। मल्लिका भी अंदर से तनाव से ग्रसित, कालिदास का जाना मल्लिका के मन और आँखों का बरसना नाटकीय तनाव को ऊँचाई के बिंदु पर लाकर खड़ा कर देता है। कालिदास का द्वंद्व तनाव तीसरे

अंक में प्रखर हो उठता है। दूसरे अंक में प्रियंगुमंजरी का मल्लिका के घर में आना तनाव पैदा करता है। घोड़े की टापों की आवाज, आकृतियों का दीखना मल्लिका और अंबिका के मन को दहला देता है। तनावग्रस्त स्थिति निर्माण होती है। इसी नाटकीय तनाव को रंगमंच पर प्रदर्शित करने के लिए अभिनय तत्व महत्वपूर्ण बन गया है। जिसके अंतर्गत वाचिक अभिनय महत्वपूर्ण हो उठा है।

वैसे नाटककार रचना के बीच-बीचमें पात्रों के मनोभाव, आने-जाने उठने-बैठने, चल्ने-बोलने, चुप रहने और भाव भंगी इत्यादि को विषय में अभिनेता के लिए जो निर्देश देता है, इन्हीं को अभिनय संबंधी रंग निर्देश कहा जाता है। इनमें संवाद-निवेदन संबंधी रंग निर्देश, क्रियाकलाप संबंधी निर्देश और संवाद क्रिया और मौन संबंधी रंग निर्देश आदि होते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में संवादों के द्वारा अभिनेता की पूरी मनस्थिति का अंदाजा हो जाता है। मल्लिका अपने प्यार में विश्वास रखती हैं जब उसी प्यार के प्रति कुछ अपशब्द कहे जाते हैं उसकी मनस्थिति अभिनय में उभरकर जाती है -

''अंबिका : ग्राम के अन्य लोग उसे उतना नहीं जानते जितना मैं जानती हूँ। मैं उससे घृणा करती हूँ।

(मल्लिका के चेहरे पर व्यथा, आवेश तथा विवशता की रेखाएँ एक साथ प्रक्ट होती है।)''[२०]

प्रियंगु जब उसके हृदय पर मर्मांतक आघात करती जाती है तब मल्लिका का अभिनय और निखर आता हैं।

''पियंगु : संभवत: तुम उन दोनों में से किसी को भी अपने योग्य नहीं समझती। परंतु राज्य में ये दो ही नहीं और अनेकानेक अधिकारी हैं। तुम मेरे साथ चलो। तुम जिस किसीसे चाहोगी...।

(मल्लिका सहसा आसन पर बैठ जाती है और रूँधे हुए आवेश के कारण अपना ओठ काट लेती है।)''[२१]

क्रियाकलाप संबंधी रंग-निर्देश अभिनय में जान ड़ाल देते हैं। अकेलेपन में कहीं बाते (मल्लिका की) रंगमंच पर भावुकता और दृश्यता भर देती है। पात्र की सारी मानसिक अवस्था शब्दों

में उतर आती हैं। मल्लिका का स्वगत लंबा कथन : यथा :-

''मल्लिका : नहीं तुम काशी नहीं गये। तुमने संन्यास नहीं लिया। मैंने इसलिए तुमसे यहाँ से जाने के लिए नहीं कहा था। ... मैंने इसलिए भी नहीं कहा था कि तुम जाकर कहीं का शासन भार सँभालों । फिर भी जब तुमने ऐसा किया, मैंने तुम्हें कामनाएँ दी, यह यदि प्रत्यक्षत: तुमने वे शुभ कामनाएँ ग्रहण नहीं की।

(ग्रंथों को हाथों में लिए हुए दोनों बाँहे सीधी कर लेती है और अभियोगपूर्ण दृष्टि से उसे देखती है.।)

तुम जीवन से तटस्थ हो सकतो हो, परंतु मैं तो अब तटस्थ नहीं हो सकती । तुम जीवन को मेरी दृष्टि से क्यों नहीं देखते ?

(तीव्र गति से अंदर के द्वार के पास जाकर किवाड़ खोल देती है और पाल्ने की ओर संकेत करती है।)

इस जीव को देखते हो ? पहचान सकते हो ? यह मल्लिका है जो धीरे-धीरे बड़ी हो रही है .... जानत हो मैंने अपना नाम खोकर एक विशेषण उपार्जित किया है और अब मैं नाम नहीं केवल विशेषण हूँ।

(किवाड़ बंद करके आसन की ओर लौट पड़ती है।)

.... परंतु तुमने यह वारांगणा का यह रूप भी देखा है?''[२२]

अभिनय सर्वाधिक सशक्त अभिव्यक्ति का माध्यम है। 'आषाढ़ का एक दिन' में मौन का अभिनय बहुत कुछ कह देता हैं। मल्लिका और अंबिका का वार्तालाप यहाँ स्पष्ट है -

''मल्लिका : आषाढ़ का पहला दिन और ऐसी वर्षा माँ ।... ऐसी धारासार वर्षा । दूर-दूर तक की उपत्यकाएँ भीग गयी । और मैं भी तो । देखो न माँ, कैसे भीग गयी हूँ।

(अंबिका उसपर सिर से पैर तक दृष्टि डालकर फिर व्यस्त हो जाती है।)

सूखे वस्त्र कहाँ है माँ ! इस तरह खड़ी रही तो जुड़ा जाऊँगी । .. तुम बोलती क्यों नहीं ?

(अंबिका आक्रोशपूर्ण दृष्टि से उसे देखती है।)''२३

अंबिका का चुपचाप धान फटकना उसके सारे आक्रोश को व्यक्त कर जाता है।

वेशभूषा रंगमंच का ही अनिवार्य तत्व हैं। यहाँ ग्राम के लोगों की वेशभूषा और राजसी वेशभूषा के स्पष्ट संकेत नहीं मिले हैं। मगर नाटककार की शब्दकला ऐसी है जिससे ग्राम और राजसी ठाट-बाट का पता चलता है। रंगमंच पर यह महत्वपूर्ण हो जाता हैं कि पात्रों की वेशभूषा नाटक के अनुसार ही हो। मल्लिका के अंशुक से भारतीय सांस्कृतिकता झलकती है।

अंधेरे प्रेक्षागृह में बैठे दर्शकों के सामने मंच पर उन्हें जों कुछ भी दिखाया या छिपाया जा सकता है, यह सब छायालोक पर ही निर्भर करता है। रंगमंच पर कृत्रिम संसार को वास्तविक दिखाने का भ्रम मूलत: छाया और आलोक के कारण ही संभव हो पाता है। 'आषाढ़ का एक दिन' में स्थान, देश तथा काल का निरूपण (दृश्य परिवर्तन) भी परदों की व्यवस्था पर निर्भर हैं। प्रथम अंक में हल्का-हल्का मेघ गर्जन और वर्षा का शब्द सुनाई देता हैं। दूसरे अंक में वर्षा का अंतराल दिखाने के लिए साधारण प्रकोष्ठ का जर्जर अवस्था में दिखाना। पर वहीं मेघ गर्जन और वही वर्षा है। राकेश यहाँ स्पष्ट शब्दों में समय का अंतराल सूचति कराते हैं जिससे नाटक की पूरी स्थिति व्यक्त होती है। नेपथ्य विधान में बच्ची का रोना महत्वपूर्ण हैं। वह बच्ची मल्लिका का वर्तमान हैं जिससे मल्लिका की जिंदगी का पता चलता हैं। कालिदास अथ से आरंभ करना चाहता था मगर बच्ची की आवाज ने उसके इरादे बदल दिये। वह चला गया। क्योंकि समय ने उसकी प्रतीक्षा नहीं की क्योंकि समय किसी की भी प्रतीक्षा नहीं करता। इच्छा के साथ समय का द्वंद्व अधिक शक्तिशाली होता है।

नाटक की स्थिति को गहराने, वातावरण की सृष्टि करने और चरित्र की भावदशा को उभारने के लिए रचनाकार कई प्रकार की पार्श्व ध्वनियों का उपयोग रचना में करता हैं। यहाँ बच्ची का रोना, घोड़े की टापों की आवाज, वर्षा की ध्वनि, मेघगर्जन महत्वपूर्ण है। यह नाटक के पूरे परिवेश को अभिव्यक्त करती हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' में पात्रों के स्वभाव, उनके मनोभाव और परिवेश के अनुकूल ही रूप विन्यास भी हुआ है। यहाँ चरित्र की आयु, स्थिति और अन्य पात्रों से उसके संबंधों का संकेत भी रूप सज्जा से मिलता हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' के पात्र तलवारों की लड़ाई कीअपेक्षा अपनी भावनाओं, मनोवृत्तियों और इरादों के संघर्ष से लड़ते है जिसके लिए वह वाक् युध्द में कुशल हैं। इसके चरित्र भी कम है जिससे अधिक अभिनेताओं की आवश्यकता भी नहीं पड़ती।

नाटक में भाषा की मुख्य भूमिका संवाद के रूप में नजर आती है। अभिनेता अपने चरित्र के संवादों के प्रति अत्यंत संवेदनशील होता है। 'संवाद के रंगमंच पर दो ही पहलू होते है -एक, उसका एक विशिष्ट स्वर शैली में बोला जाना और दूसरा, शारीरिक क्रिया अथवा हाव-भाव का उसके साथ दुहराया जाना।''[२४] अभिनय में आंगिक और वाचिक अभिनय यहाँ महत्वपूर्ण हो जाता है।

प्रस्तुत नाटक अब तक अनेक श्रेष्ठ नाट्य संस्थाओं द्वारा अलग-अलग अभिनीत किया जा चुका है। जिसमें से कुछ निम्नलिखित हैं -

१. राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली - निर्देशक - इब्राहीम अल्काजी
२. अनामिका, कलकत्ता - निर्देशक - श्यामानंद जालान
३. मेरी वॉशिग्टन कालेज, वर्जीनिया (अंग्रेजी अनुवाद) - निर्देशक - जाय माइकेल
४. थिएटर युनिट बंबई - निर्देशक - सत्यदेव दुबे

रंगमंच तत्व 'आषाढ़ का एक दिन' में वैसे कमजोर हैं, लेकिन वह राकेशजी की शुरूआत थी। 'परदों' की व्यवस्था इसमें हैं। नाटककार का आकार भी सुगठित हैं। समय का अंतराल यद्यपि बड़ा है फिर भी वह अभिनेय हैं। अलकाजी जैसे निर्देशक और अनामिका जैसी संस्था से लेकर आकाशवाणी

के विभिन्न केंद्रों से भी सभी भारतीय भाषाओं में 'आषाढ़ का एक दिन' का प्रस्तुतीकरण हुआ। जाहिर है नाटक ही ऐसा है और उससे हिंदी भाषा का योगदान महत्वपूर्ण हैं। जब एक कृति की भाषा का दूसरी भाषाओं में रूपांतर होने लगता है तब कृति के शब्द यानी भाषा ही समर्थ दिखाई देती है।

रंगमंच पर प्रेक्षक की भूमिका भी अनिवार्य होती हैं। रंगमंच पर जो देखा जाता है वह सुने जा रहे का ही रूपांतर होता है। प्रेक्षक को भाषा समझ में आए ऐसी भाषा का निर्माण नाटककार को करना पड़ता है। वैसे आज के रंगमंच को दर्शक का ही संरक्षण चाहिए। 'आषाढ़ का एक दिन' में संस्कृतनिष्ठ शब्दावली होने के बावजूद वह बौध्दिक श्रोताओं के लिए चैलेंज है तो भावुक भोक्ताओं को भीगानेवाला उतना ही सरल नाटक हैं।

राकेश की रंगमंचीय राह उनके आगे के नाटकों में और निखर गयी है इसका अध्ययन आगे करना है।

४.२.२ लहरों के राजहंस

नाट्यलेखन एक कला है उसी प्रकार प्रस्तुतीकरण भी एक कला है। फिर भी ये दोनों कलाएँ अभिन्न हैं क्योंकि नाटक में ही रंगमंच होता है जब कि कई दर्शक या पाठक और निर्देशक भी रंगमंच को नाटक से अलग मानते हैं। मोहन राकेश के नाटकों को इस नजर देखना भी गलत है क्योंकि इनके नाटक रंगमंच से नीहित है। नाटककार के पास अपनी रंगसृष्टि है और रंगसृष्टि की उपलब्धि राकेश की विशेष देन हैं। ''मोहन राकेश ने नाटक को 'थिएटर' के संदर्भ में देखा। अत: उनकी शिल्प दृष्टि अधिकांशत: रंग शिल्प की दृष्टि है। उनकी दृष्टि में लिखित नाटक शास्त्रीय रूप की अपेक्षा नाटक का वह घूमता रूप था जिसे मंच पर प्रस्तुत होना है।''[२५]

राकेशजी को रंगमंच के संदर्भ में दृश्य को उतना महत्व नहीं दिया क्योंकि राकेश जानते और मानते भी है कि दृश्य का चरम विकास सिनेमा के रूप में हुआ है। और इसीलिए नाटकीय शब्दों की खोज ही आधार है नाटक के लिए। राकेशजी ने नाटकीय शब्द को सामान्य शब्द से विशिष्ट माना। इनके दोनों (आषाढ़ का एक दिन और लहरों के राजहंस) नाटकों की भाषा औसत से अधिक मात्रा - साहित्यिक होते हुए भी रंगमंचीय भाषा से युक्त हैं।

विवेच्य नाटक यथार्थवादी नाट्य-रचना पध्दति से रचा हुआ नाटक हैं। तीन अंकों का कार्य व्यापार राजकुमार नंद के भवन में सुंदरी के कक्ष के एक ही दृश्य बंध पर प्रस्तुत होता है। देश काल वातावरण का निर्वाह भी इसमें हुआ है।

राकेशजी का यह दूसरा नाट्य प्रयोग आंतरिक बुनावट और रूपगत दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन' से भिन्न तो नहीं लगता मगर 'आषाढ़ का एक दिन' का आधार ऐतिहासिक है। और इसका आधार ऐतिहासिक से ज्यादा मिथकीय लगता है। इसमें भी त्रिअंकीय विधान है। भाषा - प्रयोग की दृष्ञि से 'लहरों के राजहंस' का अंतर्द्वंद्व 'आषाढ़ का एक दिन' से कहीं अधिक गहरा है। इसमें घटना या कथास्थितियाँ 'आषाढ़ का एक दिन' से कम है लेकिन इसमें सारा नाटकीय कार्य आंतरिक द्वंद्व से भरापूरा देखने को मिलता है। द्वंद्व को संप्रेषित करने के लिए प्रतीकों की भाषा का अभिनव प्रयोग इसमें हुआ है।

यह हिंदी का अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीक नाट्यप्रयोग बन चुका हैं। इसकी मंच-सज्जा अपने आप में सामंती स्पर्श माँगती है जो भारतीय संस्कृति का अंग भी है। नाटककार के सामने भाषायी स्तर पर बड़ी चुनौती रही होगी कि एक ओर बौध्दकाल की भाषा तथा दूसरी ओर वर्तमान काल के व्यक्ति की पूर्णत: बदली हुई भाषा का सामंजस्य कैसे किया जाए। राकेश बौध्दकाल का भ्रम बनाये रखने के लिए संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग करते हैं तो दूसरी ओर वर्तमान को प्रस्तुत करने के लिए बोलचाल की भाषा को अपनाते हैं। एक चबुतरा, एक झूला,मत्स्याकार आसान, मदिरा कोष्ठ, श्रृंगार कोष्ठ, दो दीपाधार, एक के शिखर पर पुरूष मूर्ति, दूसरे शिखर पर स्त्री मूर्ति, उलझती हुई डोरियाँ एवं पत्तियाँ, अग्निकाष्ठ, दीपक, चंदन लेप की कटोरी, प्रसाधन करने के लिए दर्पण, दो एक तकिए, मदिरा पात्र, सुगंधित जल की कटोरी, आदि उपकरणों की आवश्यकता है। कितनी ही जगह भारतीयता का स्पर्श इसमें समाया हुआ है - झूले में बैठी हुई सुंदरी, माथे पर विशेषक बनाता नंद, कामोत्सव की तैयारी में लगे हुए राजभवन के कर्मचारी और कक्ष को सजाने एवं मुद्राएँ अंकित करने में उनकी व्यस्तता यहाँ दर्शित हैं। ध्वनियों का संयोजन भी भारतीयता से ही नीहित है जिसमें वाक् की अभिव्यक्ति

है - कमलताल में कूंजते राजहंस, शंख की ध्वनि, बुध्द शरणं गच्छामि, संघ शरणं गच्छामि, बुध्दं शरण गच्छामि की सामूहिक आवाजें इसमें उभरती है जिससे भारतीय परिवेश का उद्‌घाटन होता है।

राकेश जैसे जैसे आगे बढ़ते गये वैसे वैसे उन्होंने नाटक को अलग-अलग प्रयोगों में ढ़ाला। 'लहरों के राजहंस' का प्रयोग राकेश की नाटक यात्रा की दूसरी सीढ़ी है। इसमें नाटक के नामकरण से लेकर कितने ही प्रतीकों का चुनाव किया हैं। राजहंस का अस्तित्व मंच सज्जा पर केवल नेपथ्य विधान से ही पता चलता हैं। ये सुंदरी और नंद के मन के प्रतीक है। 'मृग' का प्रकरण भी इसी ओर संकेत करता हैं। वह नंद के अस्तित्व का द्योतक है। श्यामांग का नेपथ्य विधान (ज्वर प्रलाप) नंद की द्विधास्थिति का पूरा का पूरा चित्रण प्रस्तुत करता है। दो दीपाधार, दर्पण, झूला, मत्स्याकार आसन आदि प्रतीक उपकरण भी मंच सज्जा पर अपना असर दिखाते हैं। ये सारे उपकरण नंद और सुंदरी के जीवन से जुड़कर उनके अंतर्द्वंद्व को और गहरा करते हैं। संक्षेप में 'लहारों के राजहंस' के प्रायः सभी रंगोपकरण किसी न किसी अर्थ को व्यक्त करते हैं और मंच पर अपना स्थान सार्थक कर दिखाते हैं।

नाटक में जो ध्वनियाँ प्रस्तुत की जा चुकी हैं वह नाटक की स्थिति को गहराती है, इससे नंद और सुंदरी का जीवन और तनावग्रस्त होता है और उनकी भावदशा को उभारने में भी सहायक है। पहले अंक में ही 'हंसों का स्वर' तथा उनके पंखों की फड़फड़ाहट सुनाई देना सुंदरी और नंद के भोगमय जीवन की प्रस्तुति है। सुंदरी के शब्दों में ... ''कोई गौतम बुध्द से कहे कि कमल ताल के पास आकर कभी इनसे भी वे निर्वाण और अमरत्व की बात कहें। ये चोंच से चोंच मिलाकर चकित दृष्टि सेउनकी ओर देखेंगे-''[२६] इसके बाद ही हंसों का क्रंदन, उन पर पत्थर फैंकने की आवाज से यही संकेत मिलता है कि नंद और सुंदरी का जीवन अब सुरक्षित नहीं हैं। 'बुध्दं शरणं गच्छामि' का समस्वेत स्वर सारे नाटक पर आद्यंत छाया है जिससे लगता है सारे नाटक पर बुध्द छाया है जिसने सभी को घेर रखा है। यह पार्श्व ध्वनियाँ रंगमंच की रंगमंचीयता बढ़ाते हैं।

भाषा की संप्रेषणशक्ति को कायम रखने में प्रतीक योजना के साथ 'अभिनय' तत्व महत्वपूर्ण साथ देता है। पात्र यहाँ अभिनय में अपना पूरा मनोभाव उतार देते हैं। अभिनय में अभिनेता के संवाद

महत्वपूर्ण होते है जो उनके मन की बात को शब्दों में उतार देते हैं - उनका और सुंदरी का प्रस्तुत संवाद सुंदरी की पार्थिवता को व्यक्त करता है -

''अलका : आप कहना चाहती है कि उन्होंने जो बोध प्राप्त किया है, वह ...?

सुंदरी : (बात बीच में काटकर)

उन्होंने जो बोध प्राप्त किया है, कामनाओं को जीता है! परंतु मैं जानना चाहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाये, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं? और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जागती है?...''[२७]

नंद का स्वगत अभिनय हमें उसके अस्तित्व का परिचय देता हैं। उसके अकेलेपन की कहीं बातों को हम समझ लेते हैं मगर सुंदरी नहीं क्योंकि वह सोयी हुई है - ''इतना समझ में आता है कि जिये जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है। कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष हैं और काल के विस्तार में उन्मेष और निमेष दोनों अस्थायी है।''[२८] संवाद, क्रिया और मौन का एक साथ प्रयोग करना राकेश के अभिनय दृष्टि का द्योतक है -

''अलका : क्या बात है देवी? क्या हुआ है ? ऐसे क्यों हो रही है?

(हाथ उसके कंधे पर रखने लगती है परंतु सुंदरी उसका हाथ बीच में ही रोक लेती है।)

सुंदरी : ठहर ... यहाँ कक्ष में कौन-कौन है इस समय ?

अलका : कौन-कौन है ? ... आप हैं, मैं हूँ, श्वेतांग है...।

(फिर नंद की ओर देखकर चुप कर जाती हैं।)

सुंदरी : और कोई नहीं है? कोई बाहर का व्यक्ति ?

अलका : बाहर का व्यक्ति ?... (नंद की ओर आँखे हटाकर)''[२९]

स्थान देश काल का निरूपण (दृश्य परिवर्तन) भी यहाँ प्रकाश व्यवस्था पर निर्भर है। राकेश 'आषाढ़ का एक दिन' में 'परदा' पध्दति का निर्देश कराते हैं। 'लहरों के राजहंस' मेंभी परदेवाले रंगमंच को अपनाया गया है लेकिन दृश्य परिवर्तन के लिए प्रकाश व्यवस्था का उपयोग करने के निर्देश दिये हैं। पहले अंक का जो परदा उठाया गया है उसे अंक के अंत में गिराये बिना प्रकाश और

ध्वनि के सहारे रात का अंतिम प्रहर दिखाया है, अंक के अंत में सुबह का प्रकाश दिखाया है। तीसरा अंक भी प्रकाश ध्वनि के सहारे सजाया है जिसमें रात का बीच पहर है। संक्षेप में नाटक के आरंभ में जो परदा उठाया गया है नाटक के अंत में उसे बिना गिराये प्रकाश और ध्वनि के सहारे समाप्त कर दिया है।

पूरे नाटक का कार्य-व्यापार राजभवन में घटित होता हैं। सहज है कि राजभवन के लोगों की वेशभूषा राजसी ठाट-बाट की होगी। और उसके कर्मचारियों की उनकी हैसियत के अनुसार। बाद में नंद का केश कटाना, बौध्दकाल की वेशभूषा को दर्शित करता है। इसके मंचीय उपकरण भी राजभवन की स्थिति को दर्शाते हैं।

पात्रों की मंच पर रूप-सज्जा भी बौध्दकाल की संस्कृति को दर्शाती हैं। सुंदरी और नंद की आयु, उनकी स्थिति, उनके स्वभाव, मनोभाव ये सब रूप-सज्जा के लिए सार्थक हैं। उनका स्थान एक राजकुमार (नंद) और राजकुमार की पत्नी (सुंदरी) का हैं और अन्य पात्रों का उनसे संबंध संकेत भी रूप सज्जा से मिलता हैं। कुल मिलाकर यही कहना होगा कि उनकी आयु, स्थिति, मनोभाव, स्वभाव आदि सबकुछ का स्पष्ट कोई संकेत नहीं हैं, फिर भी उनकी भाषा, उनके संवाद इनकी स्थिति को दर्शातें है। यहाँ उचित शब्दों का प्रयोग हुआ है जो इनकी सारी मनस्थिति को चित्रित करते हैं वह भी सजीव रूप में। यहाँ पात्रों की भाषा और शारीरिक क्रिया का जो सामंजस्य है वह अन्यत्र दुर्लभ हैं। इसकी भाषा काव्यमय है जो आरंभ से नंद और सुंदरी के प्रेममय जीवन का मादक संगीत प्रस्तुत करती हुई लगती है लेकिन अंत में यही भाषा काव्यात्मक न रहकर करूण संगीत में जैसे बदल जाती है।

रंगमंच यहाँ मूलत: श्रव्य के रूप में ही दिखाई देता है। यहाँ पर सारी प्रतीकात्मकता उभरी हुई है। जिसे हम देखते हैं और सुनते भी हैं। यहाँ सुंदरी का चषक भरना और खाली करना भी ध्वनित होता हैं। इतनी सूक्ष्म दृष्टि राकेशजी के पास हैं। सचमुच यहाँ यह लगता है कि नाटक तबतक अपने आप में अधूरा है जब तक उसे प्रस्तुत न किया जाए। राकेशजीने यहाँ पर नाट्यभाषा को संप्रेषित करने के लिए जो प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया है वह उस समय दुर्लभ ही रही होगी। आज भी कितने ही प्रतीक दिखाई देते हैं लेकिन इस तरह प्रतीकों पर प्रतीक का उपयोग करना आसान बात

नहीं। और शायद आगे भी किसी के बस की बात नहीं होगी। साहित्यिक भाषा को रंगमंचीय बनाने का प्रयास उनका सार्थक रहा है।

४.२.३ आधे अधूरे

'आधे अधूरे' हिंदी नाटक यात्रा में 'मील का पत्थर' साबित हुआ हैं। इससे और क्या प्रमाण चाहिए कि वह ... रंगमंचीय नाटक है। यह नाटक राकेश की रंगमंचीय खोज का सफल परिणाम है, जिससे लगता है आगे और क्या खोज की जा सकती हैं।

'आधे अधूरे' ऐसा नाटक है जिसे आज के परिप्रेक्ष्य में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। यह ऐसा पहला अपने ढंग का नाटक है जिसमें आज ही की भाषा को प्रस्तुत किया गया है। इसका देश काल वातावरण भी तत्कालीन परिस्थिति का द्योतक है और वर्तमान स्थिति का भी। राकेश ने तीनों नाटक नायिका प्रधान हैं और नायक जैसे मजबूर है जाने के लिए लौटने के लिए। यह सब कुछ दृश्यों के माध्यम से राकेश ने जादुई चमत्कार दिखाने की कोशिश नहीं की बल्कि शब्दों के द्वारा सबकुछ कहने का प्रयास किया है।

इसकी दृश्य सज्जा सार्थकता से भरी हुई हैं। टूटन और बिखराव को व्यक्त करने के लिए ध्वनि, प्रकाश और संगीत का साथ लेकर मंचीय उपकरण पूरी तरह से सुसज्जित है। 'आधे अधूरे' की वस्तु उस आधुनिक भारत से ली गई है जो अपनी संस्कृति छोड़ने पर उतारू है और पश्चिमी संस्कृति को अपना चुकी है। इसमें मंचित कमरा भी आधुनिक संस्कृति का द्योतक है। घर में पुराना सोफा, पुराना उाइनिंग टेबल, बेतरह ठूँस-ठूँसकर भरे गये रैंक-कबर्ड, अलमारियाँ, अधटूटा टी सेट, फटी किताबे, कैंची, ड्रेसिंग टेबल, कटे बदरंग मेजपोश, विदेशी अभिनेत्रियों की तस्वीरे, अखबार, फाइलें, चाय की प्याली एवं नमकीन, चीज का डिब्बा आदि चीजें इसमें अपेक्षित हैं। ये उपकरण पात्र और भाषा का संबंध अभिन्न रूप में प्रकट करते हैं। उनके अधूरेपन का अहसास ये मंचीय उपकरण पूर्णत: दर्शाते हैं। घर की सारी स्थिति निम्न स्तरीय जिंदगी को व्यक्त करती है। इसके रंग-निर्देश काफी प्रबल हैं। तस्वीरों के साथ कटती हुई अशोक की जिंदगी बेरोजगारी को व्यक्त करती है। महेंद्रनाथ का फाईल

झाड़ना, घर में भरी हुई धूल आर्थिक स्थिति के साथ पूरी मनोदशा को व्यक्त करती है। किसी के मोजेमें सुराख होना उनकी घर की माली हालको दर्शाता हैं। शब्दों का उचित चुनावही प्रेक्षक पर प्रभाव डालता है। पात्रों की क्रिया में शब्द के रूप झलकते हैं।

'आधे अधूरे' में अभिनय तत्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। यहाँ पर पात्रों की संख्या में संयम रखा है। अभिनेता की हर गति और रंगचर्चा को दिखाने के लिए राकेश ध्वनियों, संगीत स्वरों के संकेत देते हैं। इसमें एक ही अभिनेता का चार भूमिकाएँ प्रस्तुत करना आसान नहीं हैं। लेकिन यहाँ पर राकेश ने सारी पुरूषों की मानसिकता को व्यक्त करने के लिए ऐसे पात्रों का निर्माण किया है और उनको अलग-अलग भाषा दी है जिससे उनका अलग अलग व्यक्तित्व निखर आता है, मगर मानसिकता एक जैसी है। अलग अलग मुखौटे मगर चेहरा एक ही।''[३०] इस रंगयुक्ति के माध्यम से कथ्य के आयाम पूरा संप्रेषण पा सके हैं। स्त्री (सावित्री), लड़का (अशोक), बड़ी लड़की (किन्नी), छोटी लड़की (बिन्नी) आदि पात्रों का अभिनय भी मंच पर सार्थक दिखाई देता है। इनके सारे अधूरे प्रश्न भाषा की ही देन हैं। इनके संवादों की भाषा उनके व्यक्तित्व को निखार देती है। इन चरित्रों की पूरी मन:स्थिति का अंदाजा हम उनके वाक्यों से ही लगा लेते हैं -

पुरूष एक : किसी माने में नहीं । मैं इस घर में एक रबड़ स्टैम्प भी नहीं सिर्फ एक रबड़ का टुकड़ा - बार - बार घिसा जाने वाला रबड़ का टुकड़ा।''[३१]

संवाद, क्रिया और मौन का बहुविध प्रयोग राकेशजी की 'आधे अधूरे' की सर्वोत्कृष्ट देन हैं। मंच पर मौन की क्रिया बहुत कुछ कह देती है जिसे अभिनेता चाहकर भी कुछ नहीं कह सकता -

''स्त्री ..... और एक आदमी है जो घर का सारा पैसा डुबोकर सालों से हाथ पर हाथ धरे बैठा है। दूसरा अपनी कोशिश से कुछ करना तो दूर मेरे लिए सिर फोड़ने से भी किसी ठिकाने लगना अपमान समझता है। ऐसे में मुझसे भी नहीं निभ सकता। जब और किसी को यहाँ दर्द नहीं किसी चीज का, तो अकैली मैं ही क्यों अपनी को चीखती रहूँ रात दिन ? मैं भी क्यों न सुर्खरू होकर बैठ रहूँ अपनी जगह ? उससे

तो तुममें से कोई छोटा नहीं होगा ।

(लड़का चूप रहकर मेज की दराज खोलने बंद करने लगता है।)''[३२]

पात्रों की वेषभूषा उनके अभिनय में भी साथ देती है। इनकी वेशभूषा समकालीन जिंदगी की द्योतक है। कालासूट, पतलून कमीज, बंद गले का कोट, टी शर्ट, ब्लाऊज, साधारण साड़ी, फ्रौक, भड़कीली बुशशर्ट आदि वेशभूषाएँ सारे पात्रों की अलग व्यक्तित्व की पहचान कराते हैं। यहाँ वेशभूषा के बारे में निर्देश नाटककार ने सोच-समझकर दिये हैं जिससे उनकी उम्र का अंदाजा भी लगाया जा सकता हैं, लेकिन राकेश ने सबकी उम्र को भी स्पष्ट संकेत में दर्शाया हैं।

इसमें पात्रों के स्वभाव, मनोभाव और परिवेश के अनुकूल ही रूप-विन्यास दिखाई देता है। चरित्र की आयु स्थिति यहाँ स्पष्ट हो जाती है। 'उम्र चालीस को छूती। चेहरे पर यौवन की चमक और चाह फिर भी शेष।'[३३] इस वाक्य से सावित्री की पूरी मनोदशा नाटक में क्या होगी इसका पता चलता हैं। वह अंत तक अपनी चाह की खोज में दिखाई देती हैं।

''लिखित शब्द की यही शक्ति और उच्चरित ध्वनि समूह का यही बल हैं कि जिसके कारण यह नाट्यरचना बंद और खुले, दोनों प्रकार के मंचों पर अपना सम्मोहन बनाये रख सकी।''[३४] निदेशक के इस वक्तव्य में कोई कमी नजर नहीं आती। सचमुच इस नाटक की भाषा एक महत्वपूर्ण विशेषता बन गयी है। यथार्थवादी मंच का आग्रह इस नाटक में हुआ है। एक ही दृश्य बंध पर पूरा नाटक खेला गया है, प्रकाश व्यवस्था और ध्वनि के सहारे अंक परिवर्तन दिखाया है। यहाँ त्रिअंकीय योजना नहीं। जैसे अंक परिवर्तन के लिए अंतराल का उपयोग किया है। यहाँ नाटक को 'परदे' से मुक्ति पूरी तरह मिली हुई है। पात्रों के प्रवेश प्रस्थान तक रंग-प्रभावों से युक्त हैं।

रंग-सज्जा के उपकरणों में कई ऐसे उपकरण हैं जो शब्दों के समानांतर ही दिखाई देते है। नाटक के आरंभ में ही कमरे की फैली हुई चीजें जैसे तिपाई पर खुला हुआ हायस्कूल का बैग जिसमें से आधी कॉपियाँ और किताबे बाहर बिखरी है, सोफे पर दो-एक पुराने मैगजीन, कुर्सी की पीठ पर झूल रहा पाजामा, जले हुए टोस्ट आदि परिवार की बिखरी स्थिति को दर्शातें है।

इस नाटक का प्रस्तुतीकरण कितनी ही भाषाओं में हुआ है। भाषा ही वह है जिसके कारण पात्र अपनी जिंदगी के प्रश्न प्रस्तुत करते हैं। और उनके जवाब भी खोजना चाहते है मगर अधूरे रहते हैं।

राकेश की रचनाएँ प्रयोगधर्मी है। इसकी भाषाएँ भी रंगमंचीय है इसमें कोई संदेह नहीं है। साधारण सेट पर खेले जानेवाले तीनों नाटक है। इसकी भाषा ही ऐसी है जिससे दर्शक आत्मसाक्षात्कार का अनुभव करते हैं। मंच सज्जा, रूप सज्जा, वेशभूषा, नेपथ्य विधान, अभिनय, दृश्यबंध आदि में भाषा का महत्वपूर्ण स्थान हैं। वह अपने को इन सब में सम्मिलित करती दिखाई देती है। 'साहित्यिकता' को 'रंगमंचीयता' के निकट लाकर खड़ा किया है। कथा, पात्रों, अनुभूति, द्वंद्व और अभिव्यक्ति पक्ष में भाषा रंगतत्व दृश्यबंध आदि सभी नाटकीय सूत्रों का आपसी सामंजस्य नाटक में ऐसी लय पैदा करता है जो केवल राकेश के रचावमें ही मिलती है।

राकेशजी की पूरी नाटक-यात्रा को देखते हुए यहीं तथ्य सामने आता हैं कि उनके नाटकों में इतने पहलू है जो उनसे पूर्व किसी भी नाटकों में देखने को नहीं मिलते।

'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा ऐतिहासिक संदर्भ, सांस्कृतिक शब्दावली प्रस्तुत करती हुई आधुनिक मानव मन की गहराइयाँ प्रस्तुत करती है। यह हिंदी नाटक यात्रा में तहलका मचा देनेवाला पहला मंचीय नाटक हैं । 'आधे अधूरे' की समकालीनता का बोध देने की शक्ति उसमेंउतनी नहीं है । लेकिन इस नाटक के निर्माण से कितने ही परिवर्तन हुए। महत्वपूर्ण बात यह हुई इसमें काव्यात्मक अभिव्यक्ति होते हुए भी (भावनाओं) से भोगा नाटक। उतना ही यथार्थ गद्य इसमें अंकित हुआ है जो बोलचाल के नजदीक है। 'लहरों के राजहंस' की भाषा साहित्यिक होते हुए भी मानवमन की गहराइयों का द्वंद्व प्रस्तुत करती है। 'आधे-अधूरे' तो समकालीनता का पूरा परिवेश ही प्रस्तुत करती है जिसकी भाषा से समकालीन जिंदगी के तनाव को पकड़ती हुई हमारे सामने हमारा ही रूप प्रस्तुत करती है। रोजमर्रा की भाषा को इस नाटक की भाषा में प्रस्तुत किया है।

'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' में रोकशजी ने मानवमन की गहराइयों में प्रयोग कर उन्हें जो नाटकीय संप्रेषण दिया है वह हिंदी नाट्य के सर्जनात्मक स्तर को कई दर्जे ऊँचा उठा

देता है। राकेशजी पूर्व हिंदी में या तो साहित्यिक पाठ्य नाटक थे या मनोरंजनमूलक रंगमंचीय नाटक। रंगमंचीय होते हुए भी तत्कालीक परिस्थिति को प्रस्तुत करने का प्रयास उन्होंने कभी नहीं किया। राकेशजी ने ऐतिहासिकता हो,साहित्यिकता हो। साहित्यिक ढाँचे को तोड़कर सर्जनात्मकता के स्तर पर लोन का प्रथम प्रयास राकेश में दिखाई देता है। राकेशजी ने नाट्य में इस विभेद को मिटा दिया और रंगमंच को ही गहन सर्जनात्मक भाववस्तु के संप्रेषण का माध्यम बनाया। 'आधे अधूरे' उनकी उच्चकोटि की संप्रेषणीयता का उदाहरण है।

रंगमंच और नाटकीय शब्द की खोज इन दोनों महत्वपूर्ण कार्यों पर उन्होंने शोध किया जो साठोत्तरी हिंदी नाटकों के लिए प्रेरणादायी साबित हुआ। तीनों नाटकों के प्रयोग अपने धरातल पर अलग-अलग हैं उसमें कथाएँ, चरित्र अलग-अलग है, मगर तत्कालीन युगीन मानव चेतना की गहराइयाँ उसमें प्रस्तुत है, यही राकेश की देन है जो उन्हें अन्य नाटककारों से आज भी अलग स्थान पर रख देती है। नई दिशा देने का काम राकेशजी ने किया जिसकी बदौलत आज हिंदी नाटक रंगमंच और भाषा के स्तर पर अपना स्थान गौरवमय कर चुका हैं। हिंदी नाटकों का सफल मंचन इसका प्रमाण है। सचमुच, मोहन राकेश जैसा आदमी दुनिया के पर्दे पर नहीं है और ना ही उनके जैसे किसी ने शब्दों की दुनिया का निर्माण किया है।

संदर्भ सूची

१. लक्ष्मीनारायण लाल, 'रंगमंच देखना और जानना' , पृ. ६९

२. डा. गिरीश रस्तोगी, 'हिंदी नाटक सिध्दांत और विवेचन, पृ. १०९

३. वही, पृ. १०९

४. नेमिचंद्र जैन, 'आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच', पृ. ६५

५. मोहन राकेश, 'आषाढ़ का एक दिन', दो शब्द, पृ.३

६. वही, पृ. ८

७. सिध्दलिंग पट्टणशेटी, 'मोहन राकेश और उनके नाटक, पृ. १९६

८. वही, पृ. १९६

९. वही, पृ. १९७

१०. डा. नरनारायण राय, 'रंगशिल्पी मोहन राकेश', पृ. २२

११. मोहन राकेश,' आषाढ़ का एक दिन', पृ. १

१२. वही, पृ. १२

१३. वही, पृ. १०

१४. वही, पृ. ७८

१५. वही, पृ. १

१६. गोविंद चातक, 'नाट्यभाषा', पृ. ५८

१७. 'आषाढ़ का एक दिन', पृ, ८५

१८. 'लहरों के राजहंस', पृ. १९

१९. 'आषाढ़ का एक दिन', पृ. १०२

२०. वही, पृ. १०

२१. वही, पृ. ७२

२२. वही, पृ. ९२, ९३

२३. वही, पृ. २

२४. गोविंद चाक, 'नाट्यभाषा', वही, पृ. ८०

२५. ओमप्रकाश शर्मा, 'नाटककार मोहन राकेश : सं. कथुरिया', पृ.२०२

२६. लहरों के राजहंस, वही, पृ. ५१

२७. वही, पृ. ५१

२८. वही, पृ. १११

२९. वही, पृ. ११३

३०. आधे अधूरे, वही, पृ. ९२

३१. वही, पृ. ३८

३२. वही, पृ. ५३

३३. वही, पृ. ९

३४. वही, पृ. ५, निदेशक का वक्तव्य